



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2016; 2(4): 463-466
www.allresearchjournal.com
Received: 25-02-2016
Accepted: 26-03-2016

अजय कुमार सिंह

एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (जर्नलिज्म)
एम. एड., एम-फिल, नेट
पता: खसरा नं. 818 बंसल स्टोल के
पीछे बुराड़ी, दिल्ली, भारत

रैदास: भाषा के सामाजिक सरोकार

अजय कुमार सिंह

सारांश

रैदास भक्तिकाल के संत कवियों की श्रेणी में आते हैं और कबीर के समकालीन थे। संत कवियों का संबंध सीधे जनता से था। वे निम्न वर्ग में उत्पन्न हुए थे, उनके साथ रहते थे, यात्राएँ करते थे तथा उपदेश देते थे। अतः वे बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करते थे। इसे हिमाचल के चंबा से लेकर महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, बंगाल तक समझा जाता था। इसमें खड़ी बोली का गहरा पुट होता था। रैदास के अधिकतर पदों और साखियों से ऐसा लगता है कि जनता को लिखित भाषा का ज्ञान न होना उनकी सामाजिक दुर्गति का सबसे बड़ा कारण था। संत रैदास इस हौवा से बाहर निकलने की कोशिश करते हैं कि लिखित ज्ञान की अपेक्षा मौखिक ज्ञान कम शक्तिशाली नहीं होता।

स्वांग पहन हम सांच न जान्यो, लोगन यह भरमाई।
स्वच्छ रूप सैली जस पहरी, बोली तब सुधि आई।

रैदास का स्वच्छ रूप व पहनावा नहीं है, अतः आम जनता को यह विश्वास नहीं होगा कि यह भी ज्ञानी है, इसमें भी चेतना है। मसलन, स्वांग की दुनिया में सच झूठ बन गया है और झूठ सच। ऐसे में रैदास के बोलने से 'लोगन' में 'सुध' लौट आएगी इस विश्वसनीयता के साथ वे उन तमाम जड़ताओं पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं।—

भाई रे भरम भगति सुजान।
जे लौ साँच सू नहि पहचान।।

रैदास के संदर्भ में अगर भाषा को लेकर बात की जाए और भाषा के सामाजिक सरोकारों की बात की जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि रैदास भाषा के स्तर पर उतने आक्रामक नहीं है जितने कबीर हैं। कबीर अपना घर फूँक कर लोगों को चौराहे पर आकर चुनौती देते हैं जबकि रैदास समाज के भीतर भाषा का खेल करते हैं। वे उन अधविश्वासों को उन्हीं के नियमों और अधविश्वासों को केन्द्र में रखकर अपनी बात कह देते हैं। ऐसे में भाषा उन्हें एक ताकत देती है। रैदास एकाधिक पदों व साखियों में 'भाई रे!' का प्रयोग करते हैं और जहाँ भी 'भाई रे!' आया है वहाँ समाज का सच और झूठ एक साथ आया है —
“अब मैं हार्यो रे भाई।” थकित भयो सब हाल चाल तें, लोगन वेद-बड़ाई। समाज में व्यक्ति का हाल-चाल स्वयं आदमी बने रहने पर ही लिया जा सकता है। जब वह शास्त्र को केन्द्र में रखकर देवता या दूसरों से बेहतर की घोषणा करता है तब ऐसा संभव नहीं।

विशिष्ट शब्द: अमूर्त, संस्कृति, प्रतिनिधित्व, प्रतीकात्मक, व्यवहारिकता, समकालीन, सधुक्कड़ी, भ्रमणशील, रचनात्मक, प्रतिवाद, तथ्यगत, समाज सापेक्ष, औचित्य आदि।

भूमिका: भाषा को ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था माना गया है जो समाज में परस्पर विचार विनिमय के लिए प्रयुक्त होती है। भाषा का सामाजवादी दृष्टिकोण भाषा और समाज को एक साथ जोड़कर देखता है। अर्थात् 'भाषा अमूर्त संकल्पना नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवहार की वस्तु है। भाषा मानव संदर्भित व्यापार है और समाज के बीच कड़ी के रूप में उसकी सत्ता की प्रतिबिंद बनी रहती है।' डॉ. बालेन्दु तिवारी भाषा को समाज से जोड़ते हुए उसे समाज की ढाँचे की समझ के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम मानते हैं। वे कहते हैं “भाषा की पहचान अंततः एक सामाजिक वस्तु के रूप में ही स्थिर होती है।”

भाषा और समाज दोनों की प्रवृत्ति एक दूसरे से जुड़ी हुई है। समाज के रूप में हम ऐसे मानव समुदाय की कल्पना करते हैं जिसमें संबंधों के धरातल पर आपसी आदान-प्रदान की प्रक्रियाएँ गतिशील होती हैं। भाषाएँ परिवेश और संस्कृति से जुड़कर ही अपना व्यापक सामाजिक आधार पाती हैं। भाषा का अनिवार्य रिश्ता सामाजिक विकास, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संकल्पों के साथ है।

Correspondence

अजय कुमार सिंह

एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (जर्नलिज्म)
एम. एड., एम-फिल, नेट
पता: खसरा नं. 818 बंसल स्टोल के
पीछे बुराड़ी, दिल्ली, भारत

“भाषा के द्वारा ही मनुष्य अपने सामाजिक प्रयत्नों को संगठित करता है। भाषा के हथियार के माध्यम से ही समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया तेज होती है। अतः अलग-अलग सामाजिक वर्गों में अलग-अलग भाषा स्तरों का उपयोग होता है। सामाजिक व्यवहार में बदलाव भाषिक व्यवहार का समाजीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है।” यानी भाषा और संस्कृति का प्रश्न खड़ा हो जाता है।

भक्ति ऐसी सुनहु रे भाई, आई भक्ति तब बड़ाई।
कहा भयो नाच अरु गावन, कहा भयो तप किन्हें।
कहा भयो जै, चरन पखारे, जो लौ परम तत नहिं चीन्हें।
कहा भयो जै मुंड मुंडायो, तीरथ व्रत किन्हें।
स्वामी-दास, भक्त अरु सेवक, जो परम नहिं चीन्हें।
कह रैदास तेरी भक्ति दूरि है, भाग बड़े सो पावै
तज अभिमान मेरि आपा पद, पिपिलकहूँ चुनि खावै।”

यहाँ ‘रे भाई’ संत संप्रदाय के लोगों एवं आम जनता को संबोधन है, जहाँ प्रश्न वाचक स्थितियों में ऐतिहासिक सच को सामने रखा गया है। रैदास का निष्कर्ष है कि अभिमान को त्याग कर जनता की भाषा में जनता के वेश में, जनता की चाल-ढाल में रहने-सहन में भक्ति करना उचित है। एक व्यक्ति औरों के प्रति जो व्यवहार करता है, ठीक वैसा ही व्यवहार औरों से प्राप्त करता है। समाज मनुष्य के व्यवहारों से उत्पन्न इसी क्रमबद्ध सिलसिले का दूसरा नाम है।

अध्ययन का उद्देश्य:— इस अध्ययन में निर्गुण संत परंपरा के वाहक रैदास की भाषा के सामाजिक सरोकार विषयक बिन्दुओं पर प्रकाश डालने का एक प्रयास है। निम्न जाति व कुल में उत्पन्न हुए रैदास का जीवन आम जन की तरह कठिनाइयों में बीता और चपड़े का काम करने वाले रैदास की पीड़ा किस प्रकार भाषा के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, उसका समाज से क्या सरोकार रहा है। इन्हीं बातों का विश्लेषण करने का उद्देश्य है।

शोध पद्धति:— निर्गुण संत शिरोमणि रैदास पर आधारित विभिन्न पुस्तकों, लेखों, पत्र – पत्रिकाओं तथा पुस्तकालयों से संपर्क कर विश्लेषणात्मक शोध पद्धति का सहारा लेकर तथा अनेक मठों व संबंधित व्यक्तियों से मिलकर जानकारी इकट्ठा करना व सहयोग प्राप्त के माध्यम से शोध कार्य आगे बढ़ाया।

मुख्य विषय:— संतों की भाषा सधुक्कड़ी भाषा थी क्योंकि संत भ्रमणशील थे, जिस कारण उनपर विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं से साबका पड़ता था और उन सबका प्रभाव संतों की भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही था। बातचीत के क्रम में उन्हें नये शब्द भी मिलते रहे। अतः नये और पुराने शब्दों के मेल से जो एक नयी भाषा की रचना हो रही थी वह अनपढ़ समाज के लिए अधिक सरल, सम्प्रेषणीय और उपयोगी भाषा थी।

ऐसी भगति न होई, रे भाई
राम नाम बिन जो कुछ करिये, सो सब भरम कहाई।
भक्ति न रस-दान, भक्ति ने कथे ज्ञान, भक्ति न बन में गुहा खुदाई।
भक्ति ने ऐसी होसी, भक्ति ने आसा-पासी, भक्ति न कुल-काम गाई।
भक्ति ना आहार घटाई, ये सब कर्म कहाई
भक्ति न निद्रा साधै, भक्ति न बैराम बाधै
भक्ति नहीं सब वेद बड़ाई।
भक्ति न मुंड, मुंडाई। भक्ति न भाल दिखाई।
भक्ति न चरण छुवाए, भक्ति न गुनी कहाए।
भक्ति न तो लौ जानी, जो लौ आप कू आप बषानी
जोई-जोई करै, सो कर्म बड़ाई
आयो गयो, तो भक्ति पाई, ऐसी भक्ति है भाई।।

यह मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप है, जहाँ रैदास सब कुछ गिनाने के बाद भक्ति को केवल ‘आयो गयो भक्ति पाई।’ कह कर शेष चीजों को खारिज कर देते हैं। यह आना-जाना इतना सरल नहीं है, इसके लिए ‘भाई रे’ की प्रवृत्ति लानी होगी। रैदास ‘रे’ का प्रयोग बहुतायत रूप में करते हैं। यह ‘रे’ एक तरह से ‘एल्डर रिस्पेक्ट’ को खत्म करने का प्रथम प्रयास है। रैदास सत्संग में आये किसी भी जाति के लोगों को ‘रे’, कहने की ताकत रखते थे। “बापुरो सत रैदास कहै रे” ‘रे’ चेत अचेत काहे न वाल्मीकहि देखि रे।” यह ‘रे’ किसी भी तरह से किसी को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं है बल्कि भाषा के स्तर पर भी अपनी जाति (वर्ग) सुधारने की बात है।

रैदास जी प्रतीकों का भी प्रयोग बहुतायत रूप में करते हैं। एक तरफ गोविन्द, चंदन, नागर जनां, वेद तो दूसरी तरफ, नीच, इरंड, चमार, कलाल, बुनकर, कुम्हार, माली तो तीसरी तरफ चकवा-चकई, चातक, मोती, शंख, पतंग तो चौथी तरफ विविध संप्रदायों की योग साधनाओं के प्रतीकात्मक शब्द इन प्रतीक शब्दों के माध्यम से कवि व्यक्ति की स्थिति को दर्ज कराता है। यह प्रतीक उसकी सामाजिक क्षमता-अक्षमता, सामाजिक हैसियत को रेखांकित करता है। मसलन, ये प्रतीक शब्द एक ऐसे समाजशास्त्रीय अध्ययन की अपील करते हैं जहाँ गोविन्द और चंदन के साथ दास और इरंड (रेड) के संबंधों को भी समझा जा सके।

“तुम चंदन में रंड बापुरो, संग तुम्हारे बासा
नीच वृत तै ऊँच भये हैं, गन्ध सुगंध निवासा।”

चंदन और रेडी का संबंध ऊँच और नीच, गन्ध और सुगंध के संबंधों को पहचाने बिना संभव नहीं। यहाँ मात्र ईश्वर को चन्दन मान लेने से और शेष भक्त को ‘इरंड’ मान लेने से स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकती। इसे उस रूप में देखना उचित है जहाँ मुट्ठी भर लोग स्वयं को चन्दन की श्रेणी में होने का दावा ठोकते हुए शेष जातियों को ‘रेडी’ का दर्जा दे दिया है, जिसका समाज के भीतर कोई उपयोग नहीं है। जब तक व्यावहारिक स्तर पर ‘रेडी’ की सामाजिक स्थिति का खुलासा नहीं होगा तब तक ऊँच-नीच के फर्क को नहीं समझा जा सकता। यह ‘रेडी’ का पेड़ सबसे पहले तो पेड़ की स्थिति में ही नहीं है। इसकी न जलावन बन सकती है और न ही फल ही खाया जा सकता है। यह कमजोर भी होता है। अतः यह समाज उपयोगी कम है। “बेचारी रेड की तरह दरक गई” या “गाछ न विरिष उहा रेड प्रधान” जैसी कहावतें इस बात को और अधिक बल प्रदान करती हैं। रैदास जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं वह मात्र शब्द नहीं बल्कि एक पूरा समाज है जहाँ स्थान और समय के हिसाब से उसे विशेष सम्मान नहीं मिल सका। “नागर जनां मेरी जाति विख्यात चमार”। यहाँ नागर जनां मात्र पढ़े-लिखे समुदायों से नहीं है बल्कि उन ढकोसला फौलाते लोगों से भी है जिन्होंने धर्म और जाति की संकीर्णता के भीतर अपना कुख्यात ढाँचा तैयार किया था। रैदास का ‘जाति विख्यात चमार’ शोषण के विरुद्ध व्यक्ति की वह पीड़ा है जिसे वे आम जन तक पहुँचाना चाहते हैं। रैदास कुछ व्यक्तियों के नाम भी प्रतीक रूप में प्रयोग करते हैं। नामदेव बाल्मिकी, कबीर, सेन, एकाधिक बार उनके कविताओं में आता है। मसलन, “पीठ संग प्रेम कबहुं नहिं पायो, करनी कबन बिसारी।” रैदास की भाषा है जो बाहर हाथ रखते हुए अन्दर से चोट करने का प्रयास करती है।

हरि हरि हरि हरि हरि हरि
हरि सुमिरत जन निस्तरै
हरि के नाम कबीर उजागर
जनम-जनम के काटे काबर
नमत नाम देव दूध पिआया

तै जग, जन्म संकट नहिं आया
जन रविदास राम संग राता
गुरु प्रसादि नरक नहीं जाता।”

इन नामों के केन्द्र में ‘नरक’ की धरणा का खण्डन है। जाति, धर्म, कर्म, की अपेक्षा उसके सामाजिक कार्य एवं मनुष्यता की बात की गई है।

“मरम कैसे पाईब रे
मौसो कोउ न कहै समुझाय
जातै मेरी आवागमन विलाय।”

लगता है जैसे कवि अपनी ही तरह के किसी हाड़ मांस के व्यक्ति से बात कर रहा है। उसे ‘मरम’ की तलाश है। यह ‘मरम’ की पहचान इतनी आसान नहीं है क्योंकि इसकी पहचान के साथ ‘व्यक्ति’ का मुक्ति हो जाता है। ऐसे में इसे सभी नहीं समझ सकते। इसे तो वही समझ सकता है जिसने ‘मरम’ को जाना है। रैदास आगे कहते हैं कि “भाई रे सहज बंदों सोय, बिन सहज सिद्ध न होय।” अतः ‘मरम’ को जानने के लिए ‘सहज’ का ज्ञान आवश्यक है। दोनों ही चीज इतनी आसान नहीं है। इसके लिए जाति, धर्म, कर्म व तमाम अंध-विश्वासों एवं क्रिया-कलापों से बाहर दैनिक किसान जीवन की व्यावहारिकता को समझना होगा। जब शीत से पैर की बेवाई फटेगा तथा किसान और बैलों, खेतों और फसलों के सम्बन्धों के साथ श्रमिकों के श्रम को उसके विशेष-सम्बन्ध के रूप में देखा जाएगा तब ‘मरम’ और ‘सहज’ को समझा जा सकता है। भाषा के स्तर पर तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज की तर्क प्रणाली की अपेक्षा रैदास अगर हिन्दू समाज के लिए कहते हैं कि,

नाम तेरा आरती, भजन मुरारे, हरि के नाम बिन झूठे सरल सारे
नाम तेरो आसन, नाम तेरा हुरसा, नाम तेरो केसर, लै धिड़कारै

तो मुसलमानों के लिए उन्होंने कहा –

खलिक सिकस्ता मैं तेरा, दे दीदार, उभेदगार-बेकार जिउ मेरा
और आखिर इल्लिहा आदम, मौज फरिस्ता बन्दा
जिसकी पनाह पीर पैगम्बर, क्यों गरीब क्या गंदा
तू हाजरा हजूर जोगा एक, और नहीं है दूजा
जिसके इश्क आसना नहीं, क्या निवाज क्या पूजा
नाली दोज हजोज बेवखत, किमि खिदमतगार तुम्हारा
दर मादा, दर ज्वाब न पावै, कहे रैदास बिचारा।

दोनों ही स्थितियों में भाषा को संस्कृति से जोड़कर देखने वालों को विचार करना चाहिए। दोनों ही स्थितियों में एक ही बात है आदमी की पहचान। भाषा एक तरफ खड़ी बोली मिश्रित है, तो दूसरी तरफ उर्दू, फारसी मिश्रित।

प्रासंगिकता:— मध्यकालीन संतों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि उनकी भाषा खड़ी बोली के विकास की जमीन तैयार की गई भाषा थी। हिन्दी तथा हिन्दीत्तर प्रदेशों के तमाम लोग संतों को सुनने व समझने लगे थे। इसमें भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण थी। अतः यहाँ अधिक विस्तार की गुंजाइश न होने के कारण रैदास के विशेष संदर्भ में संतभाषा और अनपढ़ समाज के बीच कुछेक रिशतों की तलाश की जाएगी।

संतभाषा को अगर वह ‘मरम’ कैसे पाईब रे, मौसो कोई न कहै समुझाय, जातै मेरी आवागमन विलाय।” क्योंकि “जाति भी ओछी, जनम भी ओछी, ओछा करम हमारा।” ऐसे में उसे एक ही विकल्प दिखाई देता है कि “सब में-हरि है हरि में सब है, हरि अपने जिन जाना।” शर्त यह है कि अपने अंदर यह चेतना पैदा करो कि “कृष्ण करीम राम हरि राघव”, वेद-कतेब, कुरान

पुरातन, वाल्मिकी, नामदेव, सधना, सेन कबीर आदि को ठीक से समझ ले। रैदास अपनी संत भाषा के माध्यम से यह दायित्व बोध निभाते हैं। ऐसे में अनपढ़ समाज के लिए किसकी भाषा खतरनाक है और किसकी भाषा अनपढ़ समाज सापेक्ष, इस संदर्भ में केवल इतना कहना होगा कि ‘कलि केवल नांव अधार’। क्योंकि अनपढ़ समाज के लिए उसके श्रम का औचित्य और पूंजी का अर्थ बताना ज्यादा जरूरी है। मसलन, दूध की धार गरीबों के यहाँ बहना और दही बाबू साहब के यहाँ जमने का सन्दर्भ समझना होगा।

निष्कर्ष:— रैदास श्रम को व्यक्तिगत स्तर पर लागू करते हुए काशी के पंडितों से प्रतिवाद करते हुए अनपढ़ समाज के लिए ऐसा जमीन तैयार करते हैं जहाँ उनकी अपनी भाषा हो, अपना समाज हो, अपना दुःख हो। अर्थात् बाहरी हस्तक्षेप का अभाव हो।

“माटी का पुतला कैसे नाचतु है
देखै सुनै बोलै, दोरयो फिरतु है”।

यानि व्यक्ति की पीड़ा और उसके जीवन का सच और सच को कहने के लिए सरल भाषा “यहु तन ऐसा जैसे घास की टाटी, जल गयो घास, रलि गई बाती।” का प्रयोग द्रष्टव्य है। रैदास ब्राह्मणों, वैश्यों, शूद्रों एवं क्षत्रियों की भाषा की अपेक्षा उन पाँचवे दर्जे के लोगों की भाषा बोलते हैं जिनका अपना एक समाज बन चुका था। एक भाषा बन चुकी थी। अतः रैदास सामाजिक समानता और मनुष्यता की पहचान के लिए जनता के भीतर से भाषा को ग्रहण करते हैं।

ऐसे कछु अनुमौ, कहत न आवै, साहब मिलै तो को बिलगावै
सबमें हरि है हरि में सब है, हरि अपने निज जाना
अपनों आप, सार नहि दूसरा, जानहार सयाना।
बाजीगर संग रहिये, बाजी कू मरम हम जाना।
बाजी झूठ, साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना।
मन स्थिर होई तो कोई न सूझे, जाने जाननहारा। कहे रैदास
विमल विवेक सुख सहज सरूप संभारा।

यह विमल विवेक सुख जब तक नहीं उत्पन्न होगा तब तक उस तथ्य का अनुभव संभव नहीं जिसमें हम ‘बाजी’ और ‘बाजीगर’ में अन्तर कर सकें। ऐसे व्यक्ति को खुद ‘जाननहार’ बनना पड़ेगा। यह जाननहार सूचनाओं का खान है जो चेतनात्मक एवं रचनात्मक ढंग से सूचनाओं को ग्रहण करता है और उसे विमल विवेक से दूसरों के सामने रखता भी है। रैदास यहाँ भाषा का खेल नहीं कर रहे हैं बल्कि संत भाषा में अंतर्निहित ‘भाखा’ की विश्वसनीयता को बता रहे हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार एक नयी संस्कृति अपने नये भाषा के साथ समाज में जगह पाई। यह न तो अवधी थी और न ही ब्रज। यह विविध प्रदेशों की जनता का प्रतिनिधित्व करती हुई जनता की भाषा थी। जिसे संतों ने व्यवहार से अर्जित किया था। संतों ने इसे किसी पंरपरा, पुरानी संस्कृति के भीतर से नहीं लिया बल्कि समाज व्यवहार के लिए लिया जिससे जड़ व्यवस्था को तोड़कर एक नये वैकल्पिक व्यवस्था की जा सके जहाँ न भाव के आधार पर जड़ता हो, न भाषा के आधार पर।

डॉ. रामविलास शर्मा संस्कृति को ‘सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का साधन मानते हैं। उसी बात को आचार्य शुक्ल ने संस्कृति और प्रकृति के बीच लोकमंगल स्वरूप में समझने का प्रयास किया है। डॉ. तेजपाल चौधरी कहते हैं—

डॉ. रामविलास शर्मा संस्कृति को ‘सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का साधन मानते हैं। उसी बात को आचार्य शुक्ल ने संस्कृति और प्रकृति के बीच लोकमंगल स्वरूप में समझने का प्रयास किया है। डॉ. तेजपाल चौधरी कहते हैं—

“सरजू दरिया के किनारे अयोध्या नाम का एक मशहूर शहर था, वहाँ बादशाह दशरथ हुकूमत करते थे। उनकी तीन ‘बेगमें’ और चार शहजादे थे। भाषिक स्तर पर इन वाक्यों में कोई दोष नहीं है, फिर भी कथा अटपटी लगती है। लगता है कि जैसे भाषा से अपेक्षित परिवेश का बोध नहीं हो रहा है या कथा की आत्मा अपने मूल रूप में उभर कर सामने नहीं आ रही है यह अटपटेपन का अहसास भाषा और संस्कृति के सहसंबंध संस्कार से जन्मा है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृति भाषा में स्थिरता या जड़ता थोपती है। एक ऐसी परंपरा को जन्म देती है जिसमें परिवर्तन की गुंजाइश बहुत कम रहती है।

संतों के काव्य का आकलन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उनके पास कथ्य का अपार भंडार और आवेग था। कथन की शैली में उनको नवीन युग की भाषा का निर्माण भी स्वयं करना था। रैदास के यहाँ व्यक्तिगत स्तर पर जहाँ पुरातनता, परिवर्तन के द्वार पर आकर खड़ी हो गई थी, वहीं नवीनता ने भी आकर द्वार खटखटा दिया था।

तब नवीनता तथा पुरातनता के इस संयोग में देशाटन और भ्रमण से प्राप्त ज्ञान और भाषा तथा शब्दावली स्वतः ही सम्मिलित होने लगी थी। फलतः रैदास की भाषा तत्कालीन उत्तर भारत की सामान्य जनता के प्रति ग्राह्य भाषा बनकर राष्ट्रीय एक सूत्रता की भाषा बन गई थी।

रैदास के राष्ट्रीय अभिमान की भाषा किसी भी भूगोल विशेष का अतिक्रमण करते हुए पूरे भारत के पिछड़े हुए लोगों की भाषा बनती है और एक संबंध पैदा करती है। रैदास ने ‘संतों का विषय’ के अंतर्गत अपनी कविता की। उनकी मांग मनुष्य में ही है। अर्थात् रैदास का भाषा सरोकार समाज के भीतर से आता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रैदास बानी— डॉ. शुकदेव सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि. जगतपुरी, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003 पृ. सं. 37, 38, 41
2. संत रैदास : कृतित्व, जीवन और विचार— डॉ. योगेन्द्र सिंह, अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, प्रथम संस्करण 1972, पृ. सं. 127, 152
3. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि., जगतपुरी, दिल्ली, 2000, पृ. सं. 91
4. कबीर : आचार्य हजारी प्र. द्विवेदी—राजकमल प्रकाशन पुनः मद्रित 2003, पृ. सं. 221
5. रज्जब बानी—सं. डॉ. ब्रजलाल वर्मा, उपमा प्रकाशन, प्रा. लि. कानपुर, प्रथम संस्करण, 1963, पृ. सं. 447, 448
6. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र : गजानन माधव मुक्तिबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि., जगतपुरी दिल्ली, 2008, पृ. सं. 33, 36, 39
7. संत रैदान का निर्गुण संप्रदाय : डॉ. धर्मवीर, संगीता प्रकाशन, पृ. सं. 152, 155, 158, 159, 161, 164, 170, 173